6430

तिरथयर

सत्रहवाँ वर्ष । मई १९९३ । प्रथम अंक

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
(वि. गांधीनगर)

जैन भवन

तिरथयर

तित्थयर

भ्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १७ : अंक १

मई १९९३

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७०००० ७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

महावीर की दृष्टि में मानव-व्यक्तित्व के विकास की संभावनाएँ ३

जैन दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण १०

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र २०

संकलन ३०

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या ३१

चौमुख मन्दिर के उत्तर भाग के स्तम्भ, शत्रुंजय

महावीर की दृष्टि में मानव-व्यक्तित्व के विकास की संभावनाएँ

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

व्यक्ति का भाव ही व्यक्तित्व :

व्यक्तित्व अंग्रेजी के Personality का स्थानापन्न शब्द माना जाता है। व्यक्ति का भाव ही व्यक्तित्व है। यह स्वाभाविक ही है कि मानव विशेषण जोड़ देने पर एक ओर यह तिर्यक योनि से अपनी पृथकता सूचित करता है और दूसरी ओर इसका क्षेत्र व्यक्ति-मानव से लेकर मानव जाति तक विस्तृत हो जाता है। भाव-वाचक संज्ञा होने से यह भी सूचित होता है कि व्यक्तित्व का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर मात्र से या आकार प्रकार से नहीं है। एक व्यक्ति कितना ही सुन्दर, सुगठित और आकर्षक शरीर वाला क्यों न हो, जब उसके आचरण और बौद्धिक क्षमता की त्रुटियों का ज्ञान होता है तो उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सर्व सामान्य की धारणा बदल जाती है; उसका व्यक्तित्व हीन प्रतीत होने लगता है। यह स्पष्ट सूचना है कि मानव-व्यक्तित्व के तत्त्व आन्तरिक और सूक्ष्म हैं तथा उसका सम्बन्ध कोरे शरीर से नहीं है। मानवीय आचरण और मानवता के विशिष्ट गुणतत्त्व ही मानव-व्यक्तित्व के परिचायक हैं। आचरण का सम्यक्त्व और मानवीय गुणों का उत्तरोत्तर निखार ही मानव-व्यक्तित्व का विकास है।

परिष्कार की प्रक्रिया :

मानव-शरीर को करोड़ों वर्षों के विकास का परिणाम मानने वाली आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि भी यह स्वीकार करती है कि मानवीय आचरण और मानवता के गुणों का उत्तरोत्तर परिष्कार हुआ है, और परिष्करण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही आज का मानव, गुफा-युग के मानव से बहुत कुछ भिन्न है। परिष्करण की संभावनाओं का अन्वेषण, परिष्करण की प्रक्रिया में ही किया जा सकता है।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन से परे कुछ तत्त्व ही मानव को पशु-पक्षी आदि से पृथक् करते हैं। ये मानव शरीर के धर्म हैं अतः मानवता और उसके व्यक्तित्व का परिष्करण केवल शरीर-परिष्करण मात्र नहीं। मानसिक मलिनता, शरीरिक शुचिता को मूल्यहीन बना देती है, अतः परिष्करण की प्रक्रिया शरीर से परे मन, बुद्धि और आत्मा की ओर उन्मुख होने पर ही वास्तविक

विकास संभव है। स्थूल शरीर के परिष्कार के लिए स्थूल उपकरण चाहिए, पर मन, बुद्धि और आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्त्वों का परिष्कार स्थूल उपकरणों से तो संभव है ही नहीं। अणुओं का भेदन तो अणुओं से ही संभव है। किसी परमाणु के भेदना से जब उसके स्थूल तत्त्व प्रोटन में और अधिक सूक्ष्मता आती है तभी उस वैद्युतिक शक्ति का आविर्भाव होता है, जो अपनी शक्ति और व्यापकता में महान् है। आत्मा के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन उसी समय होता है, जब उसकी सूक्ष्मता तक पहुँचने के लिए निर्जरा की अनवरत प्रक्रिया जारी रखी जाय। कर्म ही स्थूलता है, इसका क्षय ही अणु-भेदन का परिणाम है, संवर तो सतर्कता है। आत्मोन्मुख होते ही स्थूल शरीर से दृष्टि हट कर व्यक्तित्व-विकास के क्षेत्र सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मतम आत्मा तक जा पहुँचता है। आत्मा प्रकाश-पुंज है। वही अनन्त ज्ञान, दर्शन सुख-शान्ति और शक्ति का भण्डार है। वह सूक्ष्मतम है और सूक्ष्म माध्यमों से ही आत्मोपलिब्ध संभव है। मानव-व्यक्तित्व का वही केन्द्र है। इस केन्द्र में निहित शक्तियों का अनावरण कर उसे लोक व्यापी बना देना ही मानव व्यक्तित्व की क्षेत्र-विस्तृति है। देश, काल या किसी भी संकुचित सीमा में उसे आबद्ध तो किया जा सकता है जैसे वैद्युतिक शक्ति को किसी बल्ब में, पर उसका व्यापक प्रवाह ब्रह्माण्ड व्यापी है, उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को किसी भी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। आधुनिक संदर्भ में भी आत्म-विस्तृति ही व्यक्तित्व विकास की सही दिशा है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तो साधक तत्त्व है, ये साध्य नहीं है।

मानव की रहस्यमयता :

मानव रहस्यमय है, मानवता उससे भी रहस्यपूर्ण है और उसका समग्र व्यक्तित्व तो एक और जटिल रहस्य है, जिसमें स्थूल और सूक्ष्म तथा बाह्य और अन्तर के अनेक सूत्र एक दूसरे से संश्लिष्ट है। 'आत्मानं विद्धि' के मार्ग पर चलते हुए महापुरुषों की साधना ने रहस्य के कुछ सूत्र पकड़ कर विविध गुत्थियों को सुलझाने में योगदान किया है।

आत्मा की विराटता :

यह आत्मा ही वह पुरुष है जो भूमि या पुरी की सीमा को अतिक्रान्त कर ब्रह्माण्ड व्यापी बनता है।[१] आधुनिक संदर्भ में वह किसी क्षेत्र या देश की

---

१ ऋक्, १०/९०

सीमा से आबद्ध चिन्तन न कर समग्र मानवता के विषय में विचारने के कारण विराट बन जाता है और उसकी यही विराटता उसके लोकोन्मुख व्यक्तित्व की विराटता है। यह विराटता स्थूल शरीर की नहीं सूक्ष्म आत्मा की ही है। स्वयं महावीर ने श्रेणिक से यह कहा था कि भोग और इन्द्रियों की वासनाओं में सुख नहीं है, यह तो इन्द्रयों की दासता है, दासता में आनन्द कहाँ? आत्म-स्वातन्त्र्य को ही उन्होंने सुख का मूल माना है। स्थूल शरीर को उन्होंने महत्त्व प्रदान नहीं किया। आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-चैतन्य की उपलब्धि के लिए ही उन्होंने बारह वर्ष की कठोर तपस्या की। स्वयं उनका जीवन आत्म-चैतन्य के विस्तार और मानव-व्यक्तित्व के विकास की अनुपम कहानी है। बारह वर्ष तक अध्ययन, चिन्तन, और मनन के फलस्वरूप उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया उसे अपने जीवन में उतार कर अपने आचरण से उसे प्रत्यक्ष किया। विरति तो स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठाया गया चरण-विक्षेप है, यही वीरों का मार्ग है।[२] मानव विज्ञान इस बात को प्रकट करता है कि सामान्य गति अपरिष्कृत और कम जटिल अवस्थाओं से अधिक परिष्कृत और विकसित स्वरूपों की ओर प्रगति के रूप में ही रही है।[३] विरति परिष्करण का मार्ग है, वैसे मानव स्वतन्त्र है कि वह चरम परिष्कृत अवस्था, मोक्ष, सिद्धि या केवली की स्थिति प्राप्त करे या न करे।[४] सामान्य जीवन-व्यवहार तो 'जयं चरे' आदि के अनुसार केवल विवेक सम्पन्नता की ही अपेक्षा रखता है।

आत्मोपलब्धि : लोकोपलब्धि :

व्यक्तित्व-विकास जब अन्तर्मुखी होता है तो वह आत्म-ज्योति की उपलब्धि तक पहुँचता है किन्तु जब वह बहिर्मुखी होता है तो लोकोन्मुख होने के कारण लोक-विजय तक पहुँचता है। क्या आत्मोपलब्धि और लोक-विजयोपलब्धि में कोई अन्तर है? आत्मा की उपलब्धि आत्मज्ञान के बिना असंभव है, लोकोपलब्धि लोक ज्ञान के बिना। वस्तुत; आत्म-विस्तार के ये दोनों ही ऐसे समानान्तर मार्ग हैं, जिनके आकार-प्रकार और दूरी के साथ मंजिल में भी कोई अन्तर नहीं है। एक का ज्ञान दूसरे पथ का भी ज्ञान करा देता है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन दोनों पथों

---

२ आचारांग, १/३/२०

३ धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, राधाकृष्णन, पृ० १०, ११

४ गीता, ६/५

पर समान रूप से करना पड़ता है।[५] उदाहरण के लिए अहिंसा को ही ले लिया जाय। हिंसा से विरति के बिना आत्मा को कर्म मुक्त या निष्कलुष कैसे बनाया जा सकता है? सर्व सत्वेषु मैत्री या विश्व बन्धुत्व की भावना कैसे विकसित होगी? आत्म विस्तार को विश्व व्यापी बनाने के लिए हिंसा और उसके मूल कारण कषाय-क्रोध के त्याग बिना कोई कैसे सफल होगा? कषाय-त्याग की यह साधना, चाहे आत्मोपलब्धि के लिए हो या विश्वोपलब्धि के लिए, व्यक्तिगत स्तर पर हो या सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर अथवा निजी स्तर पर हो या सामूहिक स्तर पर सर्वत्र समान है। अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जीव-विवेक इसका आधार है।[६] हिंसा का मूल कारण क्रोध है। क्रोध-विजय ही लोक-विजय है और व्यक्तित्व-विकास की अन्तः और बहिर्मुखी दोनों ही साधनाओं में इसका समान महत्व है।[७] 'आचारांग' में ब्रह्म का अर्थ है संयम, इसका आचरण ही ब्रह्मचर्य है।[८] संयम के अभाव में व्यक्तित्व-विकास तो संभव ही नहीं है। लोभ-प्रेय-स्तेय, परस्पर संबद्ध है। अत्म-विस्तृति का यह सर्वाधिक बाधक तत्त्व है।[९] यही स्थिति समस्त पंचकषायों और उनकी विरति से आत्म ज्ञान या विश्व ज्ञान की है। संसार का मूल कषाय है। कषाय-निवृत्ति की साधना ही संयमानुष्ठान है। संयम कल्याण का वास्तविक मार्ग है, यही शिव-संकल्प है।[१०] कषाय-निवृत्ति परिष्करण है, अतः व्यक्तित्व-विकास का पथ भी यही है।

विश्व-वेदना की अनुभूति :

जो आत्मा की सत्ता को अस्वीकृत करते हैं या कोरे देहात्मावादी हैं, शरीर ही जिनकी दृष्टि में सर्वस्व है, वे भी मानसिक व्यापकता को स्वीकार करते हैं। शरीर पोषण की अपेक्षा लोक-कल्याण द्वारा यशार्जन की प्रवृति जिन देहात्मवादियों में होती है, उनका व्यक्तित्व श्रेष्ठ क्यों माना जाता है? इस

---

५ आचारांग, २/३/८१, ४/३/१३४, ३/४/१२६; स्थानांग, ४२६, ४३०; समवायांग, १७; दसवैकालिक, ६/१२, १३, ७/३/११, ६/१४-१५, १६, २१, ३७, ३८ आदि

६ आचारांग, १/७/६२

७ वही

८ स्थानांग, ४२६-३०; गीता, २/४८, ५/१६, ६/३२

९ कठो०, १/१/२८; आचारांग, २/३/८२

१० आचारांग, २/१६६; ऋक्, ५/५१/१५; यजु, ३४/१

शरीर संरचना का केन्द्र मस्तिष्क है और हृदय उसका पोषण-केन्द्र, तब भी व्यक्ति निष्ठ, समाज निष्ठ और विश्व निष्ठ मानव के व्यक्तित्व का स्तर-भेद तो है ही। व्यक्ति-मानस के परिष्करण एवं विकास के बिना क्या उसमें यह क्षमता आ सकती है कि वह विश्व वेदना की अनुभूति कर सके? उसकी हृदय वीणा के तार की झंकार विश्व भर के मानव-हृदय के तारों को समान स्वर में कैसे झंकृत कर सकती है? आज तो टेलिपैथी को वैज्ञानिक सत्य मान लिया गया है। व्यक्ति व्यक्तित्व के सीमित क्षेत्र एवं धरातल से विश्व-मानव के व्यक्तित्व का व्यापक क्षेत्र एवं धरातल निश्चित ही ऊँचा है। इस व्यक्तित्व-विकास के लिए भी वैसी ही साधना और तप की आवश्यकता पड़ती है जैसी आत्मा के निर्मल स्वरूप की उपलब्धि के लिए। साधना के स्तर और स्वरूप की दृष्टि से दोनों ही पथ समान और समानान्तर हैं। मार्ग की कठिनाइयां और बाधाएँ भी समान हैं, और सिद्धियां तथा सफलताएँ भी समान हैं। एक पथ के पथिक का अनुभव दूसरे आत्म-पथ के पथिक के अनुभव से भिन्न नहीं है। यही कारण है कि महावीर ने न लोक की उपेक्षा की, न आत्मा की। आत्मज्ञ वह है, जो विश्वज्ञ है और विश्वज्ञ वह है, जो आत्मज्ञ है।[११] व्यक्तित्व विकास की यह मंजिल है। यहीं पहुँच कर लोकाधिगमता और लोकातिक्रान्त गोचरता प्राप्त होती है। अमरत्व यही है।[१२]

अमरत्व की उपलब्धि :

साधना के इस समानान्तर पथ के किसी भी पथिक के लिए यह आवश्यक है कि वह कोई भी पथ अपनाए, मंजिल तक पहुँचे। महावीर ने वह मंजिल प्राप्त करली थी। वह निर्ग्रन्थ बने और तब लोक-कल्याण के दूसरे समानान्तर पथ पर सरलता से चल पड़े। महावीर 'निर्ग्रन्थ' थे इसके अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कर्मबन्ध की समस्त गुत्थियों से मुक्त होकर केवलज्ञान सम्पन्न मुक्त-पुरुष थे। निर्ग्रन्थ के वास्तविक अर्थ बोध में उपनिषद् के निम्नलिखित दो श्लोक अधिक सहायक हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

---

११ जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ
—आचारांग, ३/४/१२३

१२ कठो०, २/३/८; श्वेत०, ६/१५

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ।। कठो० २/३/१४-१५

इन दोनों श्लोकों का अर्थ जैन-दर्शन की शब्दावली में कहा जाय तो यही है कि समस्त कामनाओं से मुक्ति नये कर्मों का निरोध है और हृदय की समस्त ग्रन्थियों का छेदन पूर्व कर्मों के संस्कारों की निर्जरा है। मरणधर्मा मनुष्य की अमरता निर्जरा और संवर से ही संभव है। मानव-व्यक्तित्व का चरम विकास अमरत्व की उपलब्धि है। इस अमृतत्व को जिसने पा लिया है, वही निर्ग्रन्थ है, आत्मज्ञ है।

निर्ग्रन्थता ही पूर्ण विकास :

देहात्मवादियों के लिए भी 'निर्ग्रन्थता' की उपलब्धि ही उसके व्यक्तित्व विकास का उच्चतम रूप है। यहाँ निर्ग्रन्थता का अर्थ ग्रन्थियों (Complexes) से मुक्ति है। मानव-मन-मस्तिष्क की कोटि-कोटि ग्रंन्थियों के मूल में हृदयाश्रित कामनाएँ हैं। कुछ ग्रन्थियां जन्मजात होती है, कुछ इस जीवन की अपूर्व कामनाओं से उद्भूतः, परन्तु निर्मल मन-मस्तिष्क की उपलब्धि तो दोनों प्रकार की ग्रन्थियों की मुक्ति से ही संभव है। उच्चता और हीनता की ग्रन्थियों से मुक्ति ही तो समत्व-साधना है। यह स्पष्ट है कि 'निर्ग्रन्थ' महावीर के युग में भी मानव-व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण प्रतीक था और आधुनिक संदर्भ में भी यह उतना ही सत्य है।

पंच विकार या कषाय ही संसार या कर्म बन्ध के कारण हैं, ये ही ग्रन्थियों के भी कारण हैं। केवल काम ही नहीं, क्रोधादि अन्य कषाय भी संयम या निर्जरा के अभाव में ग्रन्थियों के जनक बनते हैं। केवल रुपये के संग्रह के लिए चारित्रिक पतन की गहरी खाई की ओर दौड़ता व्यक्ति मानव, शक्ति-संग्रह के लिए अणु-विस्फोट करते राष्ट्र, शक्ति-प्रदर्शन के लिए सामान्य-जनता पर बमों की अनवरत वर्षा करने वाले शासक क्या व्यक्ति या राष्ट्रीय स्तर पर किसी न किसी प्रकार की ग्रन्थि से ग्रस्त नहीं हैं? अपने अस्तित्व के खो जाने के भय से ग्रस्त समाज, राष्ट्रीय या मानवतावादी धारा के साथ एक रस नहीं हो पाते, क्या इसके पीछे एक 'ग्रन्थि' नहीं है? सच्चाई तो यह है कि आज का मानव सामान्य मानवीय गुणों को भूल कर तिर्यक योनिज श्रेणियों के अधिक समीप पहुँचता जा रहा है। पंचविकार उस पर सवार हैं। इसका मुख्य उदाहरण वह विज्ञान है जो अपने ही स्रष्टा के सिर पर सवार हो बैठा है। इस अर्थ प्रधान भौतिक युग में ग्रन्थिग्रस्त मानव

व्यक्ति रूप हो या समाज रूप, राष्ट्र रूप हो या विश्व रूप, अपने व्यक्तित्व-विकास के लक्ष्य को ही नहीं भुला बैठा है उसके मुख्य साधन निर्जरा और संवर को भी धीरे-धीरे खो रहा है।

निर्जरा और संवर के डग बढ़ते चलें :

इस युग में 'स्व' की साधना इतनी प्रबल हो उठी है कि आत्म-ज्ञान, आत्म-विस्तार, लोक-ज्ञान और लोकोपलब्धि की बातें नक्कारखाने में तूती की आवाज लगती हैं। महावीर की दृष्टि तो स्पष्ट है, आत्म-ज्ञान और लोक-कल्याण के समानान्तर पथ में से किसी पथ का भी पथिक निर्जरा और संवर के डग भरता 'निर्ग्रन्थ' बन सकता है, जो व्यक्तित्व के परम विकसित रूप का प्रतीक है। इस पथ का पथिक केवल व्यक्ति ही नहीं कोई भी समाज, कोई भी राष्ट्र और राष्ट्रों का विश्व-संघ भी हो सकता है। हो सकता है, संभावनाएँ तो हैं, परन्तु विश्व-मानव कब इस पथ पर चल कर विश्व मानवता को प्राप्त कर सकेगा, यह तो अभी भी प्रतीक्षा का विषय बना हुआ है। व्यक्तित्व-विकास के लिए महावीर का निर्दिष्ट पथ तो स्पष्ट है, पर उस पर सच्चे पथिक की अब भी प्रतीक्षा हो रही है जो अपने पीछे समस्त मानवों को ले चले। संभावनाओं की अनन्तता, पर एक की, केवल एक 'निर्ग्रन्थ' की नेतृत्व शक्ति हृदय ग्रन्थियों के भेदन के पथ पर आगे बढ़ा सके, महावीर की अमरवाणी जिसके मुख से निस्सृत हो इस देश सहित विश्व को अपने समग्र-व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रेरित कर सके उसकी तो अब भी प्रतीक्षा है।

जैन दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

मुनि श्री सुशीलकुमार

सत्य की उपलब्धि :

तत्त्व का ज्ञान तपस्या एवं साधना पर निर्भर है। सत्य की उपलब्धि इतनी सरल नहीं है कि अनायास ही वह हाथ लग जाय। जो निष्ठावान् साधक जितनी अधिक तपस्या और साधना करता है, उसे उतने ही गुह्य-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की बात छोड़ दें और चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के ही जीवन पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट विदित होगा कि उनकी तपस्या और साधना अनुपम और असाधारण थी। भ० महावीर साढ़े बारह वर्षों तक निरन्तर कठोर तपश्चर्या करते रहे। उस असाधारण तपश्चर्या का फल भी उन्हें असाधारण ही मिला। वे तत्त्वबोध की उस चरम सीमा का स्पर्श करने में सफल हो सके, जिसे साधारण साधक प्राप्त नहीं कर पाते। वास्तव में जैन-धर्म के सिद्धान्तों में पाई जाने वाली खूबियाँ ही उनका रहस्य है। जैन मान्यताएँ यदि वास्तविकता की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित विज्ञानसम्मत हैं तो उनका रहस्य भगवान् महावीर का तपोजन्य परिपूर्ण तत्त्वज्ञान ही है।

सृष्टि-रचना की प्रक्रिया :

उदाहरण के लिए सृष्टि रचना के ही प्रश्न को ले लीजिए, जो दार्शनिक जगत में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधारभूत है। विश्व में कोई दर्शन या मत न होगा, जिसमें इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास न किया गया हो। क्या प्राचीन, और क्या नवीन, सभी दर्शन इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। मगर वैज्ञानिक विकास के इस युग में उनमें अधिकांश उत्तर कल्पना मात्र प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने बिना किसी संकोच या झिझक के स्पष्ट कह दिया कि लोक का प्रश्न अव्याकृत है—अनिर्णित है। इसका आशय यही लिया जा सकता है कि लोक-व्यवस्था के सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इस स्पष्टोक्ति के लिए गौतम बुद्ध धन्यवाद के पात्र हैं, मगर लोक के विषय में हमारे अन्तःकरण में जिज्ञासा सहज रूप से उदित होती है, उसकी तृप्ति इस उत्तर से नहीं हो पाती। और जब हम जिज्ञासा तृप्ति के लिए इस

विषय के विभिन्न दर्शनों के उत्तर की ओर ध्यान देते हैं, तब निराशा का सामना करना पड़ता है।

'सृष्टि रचना के विषय में अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रथम यह कि सृष्टि का विधिवत् निर्माण हुआ है या नहीं? अगर निर्माण हुआ है, तो इसका निर्माता कौन है? यदि निर्माण नहीं हुआ तो सृष्टि कहाँ से आई? सृष्टि निर्माण से पहले क्या स्थिति थी?

इन प्रश्नों पर दार्शनिक कभी सहमत नहीं हो सके। एक कहता है 'सृष्टि देव के द्वारा उत्पन्न की गई है' तो दूसरा कहता है, 'ब्रह्म या ब्रह्मा ने इसकी रचना की है।' किसी का मत है कि ईश्वर इसका निर्माता है, और किसी के मतानुसार प्रकृति से सृष्टि बनी है। कोई स्वयम्भू को सृष्टि का कर्त्ता कहते हैं। कोई अण्डे से उसकी उत्पत्ति बतलाते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार यह चराचर विश्व, अण्डे से उत्पन्न हुआ है। जब संसार में कोई भी वस्तु नहीं थी तब ब्रह्मा ने पानी में एक अण्डा उत्पन्न किया। बढ़ते-बढ़ते वह बीच में से फट गया। उसके दो भागों में से एक से ऊर्ध्व-लोक की ओर दूसरे से अधो-लोक की उत्पत्ति हुई।

कोई स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, कोई काल से, कोई नियति से और कोई यदृच्छा से।

सृष्टि से पहले कौन-सा तत्त्व था, इस विषय में भी विभिन्न दर्शनों में मतैक्य नहीं है। किसी के मन्तव्य के अनुसार सृष्टि से पहले जगत् असत् था—"असद्वा इदमग्र आसीत्", दूसरे कहते हैं—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे सौम्य! जगत् सृष्टि पहले सत् था। किसी का कहना है—"आकाशः परायणम्" अर्थात् सृष्टि से पूर्व आकाश-तत्त्व विद्यमान था। कोई इस मन्तव्य के विरुद्ध कहते हैं—"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्"। "मृत्युनैवेद-मावृतमासीत्" अर्थात् सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था, सभी कुछ मृत्यु से व्याप्त था, अर्थात् प्रलय के समय नष्ट हो चुका था।

अभिप्राय यह है कि जैसे सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ हैं, उसी प्रकार सृष्टिपूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में भी परस्पर विरुद्ध मन्तव्य हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

सृष्टि प्रक्रिया सम्बन्धी इन परस्पर विरुद्ध मन्तव्यों की आलोचना जैन दर्शन में विस्तारपूर्वक की गयी है। उसे यहाँ प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं, तथापि यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि इन कल्पनाओं के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् सत् मान लिया

जाय तो उसके नये सिरे से निर्माण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो सत् है वह तो है ही। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् एकान्त असत् था और असत् से जगत् की उत्पत्ति मानी जाये तो शून्य से वस्तु का प्रादुर्भाव स्वीकार करना पड़ेगा, जो तर्क और बुद्धि से असंगत है। इसी प्रकार सृष्टिनिर्माण प्रक्रिया भी तर्कसंगत नहीं है।

जैन धर्म की मान्यता :

इस विषय में जैन-धर्म की मान्यता ध्यान देने योग्य है। जैन धर्म के अनुसार जड़ और चेतन का समूह यह लोक सामान्य रूप से नित्य और विशेष रूप से अनित्य है। जड़ और चेतन में अनेक कारणों से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। एक जड़ पदार्थ जब दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मिलता है तब दोनों में रूपान्तर होता है, इसी प्रकार जड़ के सम्पर्क से चेतन में भी रूपान्तर होता रहता है। रूपान्तर की इस अविराम परम्परा में भी हम मूल वस्तु की सत्ता का अनुगम स्पष्ट देखते हैं। इस अनुगम की अपेक्षा से जड़ और चेतन अनादिकालीन हैं और अनन्तकाल तक स्थिर रहने वाले हैं। सत् का शुन्य रूप में परिणमन नहीं हो सकता, और शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव या उत्पाद नहीं हो सकता है।

पर्याय की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है परन्तु उसके लिए देव, ब्रह्म, ईश्वर या स्वयम् की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतएव न तो जगत् का कभी सर्जन होता है, न प्रलय ही होता है। अतएव लोक शाश्वत है। प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ माने जाने वाले श्री जे० बी० एस० हाल्डेन का मत है कि—"मेरे विचार में जगत् की कोई आदि नहीं है। सृष्टिविषयक यह सिद्धांत अकाट्य है, और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नहीं कर सकता।"

पृथ्वी का आधार :

प्राचीनकाल के दार्शनिकों के सामने एक जटिल समस्या और खड़ी रही है। वह है इस भूतल के टिकाव के सम्बन्ध में, यह पृथ्वी किस आधार पर टिकी है। इस प्रश्न का उत्तर अनेक मनीषियों ने अनेक प्रकार से दिया है। किसी ने कहा—'यह शेष नाग के फण पर टिकी है।' कोई कहते हैं, 'कछुए की पीठ पर ठहरी हुई है।' तो किसी के मत के अनुसार 'वराह दाढ़ पर' इन सब कल्पनाओं के लिए आज कोई स्थान नहीं रह गया है।

जैनागमों की मान्यता इस सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक है। इस पृथ्वी के

नीचे घनोदधि (जमा हुआ पानी) है, उसके नीचे तनु-वात है और तनुवायु के नीचे आकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं है।

लोक स्थिति के इस स्वरूप को समझाने के लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु भरकर फुला दे और फिर मशक का मुंह मजबूती के साथ बाँध दे। फिर मशक के मध्य भाग को भी एक रस्सी से कसकर बाँध दे। इस प्रकार करने से मशक की पवन दो भागों में विभक्त हो जाएगी और मशक डुगडुगी जैसी दिखाई देने लगेगी। तत्पश्चात् मशक का मुँह खोलकर ऊपरी भाग का पवन निकाल दिया जाय और उसके स्थान पर पानी भरकर पुनः मशक का मुंह कस दिया जाय, फिर बीच का बन्धन खोल दिया जाय, ऐसा करने पर मशक के ऊपरी भाग में भरा हुआ जल ऊपर ही टिका रहेगा, वायु के आधार पर ठहरा रहेगा, नीचे नहीं जाएगा, क्योंकि मशक के ऊपरी भाग में भरे पानी के लिए वायु आधार रूप है। इसी प्रकार वायु के आधार पर पृथ्वी आदि ठहरे हुए हैं।

(भगवती सूत्र, श० १, उ० ६)

स्थावर जीवों की जीवत्वशक्ति :

जैन धर्म वनस्पति, पृथ्वी, जल, वायु और तेज में चैतन्य शक्ति स्वीकार करके उन्हें स्थावर जीव मानता है। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा वनस्पति की सजीवता प्रमाणित कर दी है। उसके पश्चात् विज्ञान, पृथ्वी की जीवत्वशक्ति को स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहा है। विख्यात् भूगर्भ वैज्ञानिक श्री फ्रांसिस ने अपनी दस वर्षीय भूगर्भयात्रा संस्मरण लिखते हुए Ten Years Under Earth नामक पुस्तक में लिखा है कि—

"मैंने अपनी इन विविध यात्राओं के दौरान में पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे हैं, जो आधुनिक पदार्थ विज्ञान से विरोधी थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमों द्वारा समझाये नहीं जा सकते।"

इसके पश्चात् वे अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

"तो प्राचीन विद्वानों ने पृथ्वी में जीवत्वशक्ति की जो कल्पना की थी, क्या वह सत्य है ?"

श्री फ्रांसिस भूगर्भ सम्बन्धी अन्वेषण कर रहे हैं। एक दिन वैज्ञानिक जगत् पृथ्वी की सजीवता स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

आत्मा की अनन्त ज्ञानशक्ति :

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति विद्यमान है, परन्तु जब तक वह कर्म द्वारा आच्छादित है, तब तक अपने असली स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाती। जब कोई सबल आत्मा आवरणों को निःशेष कर देती है, तो भूत और भविष्य वर्तमान की भाँति साफ दिखाई देने लगते हैं।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० जे० बी० राइन ने अन्वेषण करके अनेक आश्चर्यजनक तथ्य घोषित किये हैं। उन तथ्यों को भौतिकवाद के पक्षपाती वैज्ञानिक स्वीकार करने में हिचक रहे हैं, मगर उन्हें अमान्य भी नहीं कर सकते हैं। एक दिन वे तथ्य अन्तिम रूप से स्वीकार किये जायेंगे, और उस दिन विज्ञान आत्मा तथा सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) की जैन मान्यता पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा।

ध्यान और योग जैन-साधना के प्रधान अंग हैं। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ध्यान और योग के द्वारा विस्मयजनक आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति की जा सकती है। आधुनिक विज्ञान भी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हुआ है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान डा० ग्रेवाल्टर की The Living Brain नामक पुस्तक पठनीय है।

ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकने की कला :

दर्शन शास्त्र का उद्देश्य शुद्ध बोध की उपलब्धि और उसके द्वारा समस्त बन्धनों से विमुक्ति पाना है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति बिना शाश्वत शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। बोध मुक्ति का साधन है, मगर यह भी स्मरणीय है कि वह दुधारी खड्ग है। ज्ञान के साथ अगर नम्रता है, उदारता है, निष्पक्षता है, सात्विक जिज्ञासा है, सहिष्णुता है, तो ही ज्ञान आत्मविकास का साधन बनता है। इसके विपरीत ज्ञान के साथ यदि उद्दण्डता, संकीर्णता, पक्षपात एवं असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है तो वह अधःपतन का कारण बन जाता है। मानवीय दौर्बल्य से उत्पन्न यह अवांछनीय वृत्तियाँ अमृत को भी विष बना देती है।

जैन धर्म ने उस कला का आविष्कार किया है, जो ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकती है। वह कला ज्ञान को सत्य, शिव, और सुन्दर बनाती है, उस कला को जैनदर्शन ने अनेकान्त दृष्टि का नाम दिया है। यह दृष्टि परस्पर विरोधी वादों का आधार समन्वय करने वाली, परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता, नम्रता, सहिष्णुता और सात्विकता उत्पन्न

करने वाली है। दार्शनिक जगत् के लिए यह महान् वरदान है।

अहिंसक दृष्टि का विकास :

मानव जाति को मांस भक्षण की अवांछनीयता एवं अनिष्टकारिता समझा कर मांसाहार से विमुख करने का सूत्रपात जैन धर्म ने ही किया है। समस्त धर्मों का आधारभूत और प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा ही है। यह मन्तव्य बनाने का अवकाश जैन धर्म ने ही दिया है। जैन धर्म ने अहिंसा को इतनी दृढ़ता और सबलता के साथ अपनाया, और जैनाचार्यों ने अहिंसा का स्वरूप इतनी प्रखरता के साथ निरूपण किया, कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मों का अंग बन गई। जैन धर्मोपदेशकों की यदि सबसे बड़ी एक सफलता मानी जाय, तो वह अहिंसा की साधना ही है। उनकी बदौलत ही आज अहिंसा विश्वमान्य सिद्धान्त है। देशकाल के अनुसार उसकी विभिन्न शाखाएँ प्रस्फुटित हो रही है। जैन धर्म की, अहिंसा के रूप में एक महान् देन है, जिसे विश्व के मनीषी कभी भूल नहीं सकते।

यों तो भगवान् ऋषभदेव के युग से ही अहिंसा तत्त्व, प्रकाश में आ चुका था, मगर जान पड़ता है कि मध्यकाल में पुनः हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी तब बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए जोरदार प्रयास किया। उन्होंने विवाह के लिए श्वसुरगृह के द्वार तक पहुँच कर भी पशुपक्षियों की हिंसा के विरोध में विवाह करना अस्वीकार करके तत्कालीन क्षत्रिय वर्ग में भारी सनसनी पैदा कर दी। अरिष्टनेमि का वह साहसपूर्ण उत्सर्ग, सार्थक हुआ और समाज में पशुओं और पक्षियों के प्रति व्यापक सहानुभूति जागी। उनके पश्चात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सर्प जैसे विषैले प्राणियों पर अपनी करुणा की वर्षा करके, लोगों का ध्यान दया की ओर आकर्षित किया। फिर भी धर्म के नाम पर जो हिंसा प्रचलित थी, उसे निःशेष करने के लिए चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने प्रभावशाली उपदेश दिया। यद्यपि हिंसा प्रचलित है फिर भी विचारवान लोग उसे धर्म या पुण्य का कार्य नहीं समझते, बल्कि पाप मानते हैं। इस दृष्टिपरिवर्तन के लिए जैन परम्परा को बहुत उद्योग करना पड़ा।

अवतारवाद बनाम परमात्मवाद :

आत्मा की चरम और विशुद्ध स्थिति क्या है ? यह दर्शनशास्त्र के चिंतन का एक प्रधान प्रश्न रहा है। विभिन्न दर्शनों ने इस पर विचार किया है और अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार चित्त की परम्परा का अवरुद्ध हो जाना, आत्मा की चरम स्थिति है। इस मान्यता के अनुसार दीपक के निर्वाण की भांति आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है।

कणाद मुनि का वैशेषिक दर्शन आत्मा की अन्तिम स्थिति मुक्ति स्वीकार करता है, पर उसकी मुक्ति का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे समझ लेने पर अन्तःकरण में मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा जाग्रत नहीं होती। कणाद ऋषि के मन्तव्य के अनुसार मुक्त आत्मा ज्ञान और सुख से सर्वदा वंचित हो जाता है। ज्ञान और सुख ही आत्मा का असाधारण गुण हैं और जब इनका ही समूल उच्छेद हो गया तो फिर क्या आकर्षण रह गया मुक्ति में ?

संसार में जितने अनादिमुक्त एकेश्वरवादी सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा, ईश्वरत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर एक अद्वितीय है। जीव जाति से वह पृथक् है। संसार में अधर्म की वृत्ति और धर्म का ह्रास होने पर उसका संसार में अवतरण होता है। उस समय वह परमात्मा से आत्मा का रूप ग्रहण करता है। जैन धर्म अवतारवाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है। और परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा के पुनः भवावतरण का विरोध करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उच्च से उच्च जो आदर्श संभव है, उसकी उपलब्धि का आश्वासन और पथप्रदर्शन जैन धर्म से मिलता है। वह आत्मा के अनन्त विकास की संभावनाओं को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। जैन धर्म का प्रत्येक नर को नारायण और भक्त को भगवान्, बनने का यह अधिकार देना ही उसकी मौलिक मान्यता है।

व्यक्ति की महत्ता गुणों से :

जैन धर्म सदैव गुण पूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल, वर्ण अथवा बाह्य वेष के कारण वह किसी व्यक्ति की महत्ता अंगीकार नहीं करता। भारतवर्ष में प्राचीन काल से एक ऐसा वर्ग चला आता है जो वर्णव्यवस्था के नाम पर, अन्य वर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए एक अखण्ड मानव जाति को अनेक खण्डों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार पर, समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को अधिक-से-अधिक अवकाश हो परन्तु जन्म के आधार

पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है।

एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी, और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है। "प्रत्युत यह सद्गुरु और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचार, सदाचार से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान, ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है। यही ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती।" (निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य, पृष्ठ २८६)

अतएव जैन धर्म की मान्यता है कि गुणों के कारण कोई व्यक्ति आदरणीय होना चाहिए और अवगुणों के कारण अनादरणीय एवं अप्रतिष्ठित होना चाहिए। इस मान्यता के पोषक जैनागमों के कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

मस्तक मूंडा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता, अरण्यवास करने से ही कोई मुनि नहीं होता और कुशचीर के परिधानमात्र से कोई तपस्वी का पद नहीं पा सकता।

(उत्तराध्ययन अ० २५, सूत्रकृतांग १ श्रु०, अ० १३, गा० ६, १०, ११)

समभाव के कारण श्रमण, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान की उपासना करने के कारण मुनि, और तपश्चर्या में निरत रहने वाला तापस कहा जा सकता है।

कर्म (आजीविका) से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है, और कर्म से शूद्र होता है।

मनुष्य-मनुष्य में जाति के आधार पर कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता मगर तपस्या (सदाचार) के कारण अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है। (उत्तराध्ययन)

इन उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि जैन धर्म ने जन्मगत वर्णव्यवस्था एवं जाति-पाति की क्षुद्र भावनाओं को प्रश्रय न देकर गुणों को ही महत्व प्रदान किया है। इसी कारण जैन संघ ने मनुष्य-मात्र का वर्ण एवं जाति का विचार न करते हुए समान-भाव से स्वागत किया है। वह आत्मा और परमात्मा के

बीच में भी कोई अलंघ्य दीवार स्वीकार नहीं करता तो आत्मा-आत्मा और मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसे स्वीकार कर सकता है ?

अपरिग्रह भाव की व्यावहारिकता :

संसार का कोई भी धर्म परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है, किन्तु सब धर्म एक स्वर से इसे हेय घोषित करते हैं। ईसाई धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक बाइबिल का यह उल्लेख प्रायः सभी जानते हैं कि—"सूई की नोंक में से ऊँट कदाचित निकल जाय, परन्तु धनवान् स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता।" परिग्रह की यह कड़ी-से-कड़ी आलोचना है। इधर भारतीय धर्म भी परिग्रह को समस्त पापों का मूल और आत्मिक पतन का कारण कहते हैं, किन्तु जैन धर्म में अपरिग्रह को व्यवहार्य रूप प्रदान करने की एक बहुत सुन्दर प्रणाली निर्दिष्ट की गई है।

जैन संघ मुख्यतया दो भागों में विभक्त है···त्यागी और गृहस्थ। त्यागी वर्ग के लिए पूर्ण अपरिग्रही, अकिंचन रहने का विधान है। जैन त्यागी संयम साधना के लिए अनिवार्य कतिपय उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने अधिकार में नहीं रखता। यहाँ तक कि अगले दिन के लिए भोजन भी अपने पास नहीं रख सकता। उसके लिए अपरिग्रह महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है।

गृहस्थवर्ग अपरिग्रही रहकर संसार-व्यवहार नहीं चला सकता और इस कारण उसके लिए पूर्ण परिग्रहत्याग का विधान नहीं किया गया है, उसे सर्वथा अनियन्त्रित भी नहीं छोड़ा गया है। गृहस्थ को श्रावक की कोटि में आने के लिए अपनी तृष्णा, ममता एवं लोभ-वृत्ति को सीमित करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिये। परिग्रह-परिमाण श्रावक के पाँच मूल व्रतों में अन्यतम है। इस व्रत का समीचीन रूप से पालन करने के लिए श्रावक को दो व्रत और अंगीकार करने पड़ते हैं, जिसका भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदण्ड-त्याग के नाम से गृहस्थ धर्म के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। परिमित परिग्रह का व्रत तभी ठीक तरह व्यवहार में आ सकता है, जब मनुष्य अपने भोग और उपयोग के योग्य पदार्थों की एक सीमा बना ले और साथ ही निरर्थक पदार्थों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले। इस प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए इन सहायक व्रतों की बड़ी आवश्यकता है।

अर्थ तृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन न बन जाय, जीवन-चक्र द्रव्य के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे,

और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अन्धकार में विलीन न हो जाय, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन में आना ही चाहिए। यदि अपरिग्रह भाव जीवन में आ जाय, और सामूहिक रूप में आ जाय तो अर्थवैषम्यजनित सामाजिक समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। उन्हें हल करने के लिए समाजवाद या साम्यवाद या अन्य किसी नवीनवाद की आवश्यकता ही नहीं रहती।

जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है, अतएव समाजशास्त्रियों के लिए अध्ययन करने योग्य है। इससे व्यक्ति का जीवन भी उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही समाज की समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

तदुपरान्त महात्मा राम ने बन्दी कुम्भकर्ण मेघनाद आदि को मुक्त कर दिया।

कुम्भकर्ण विभीषण इन्द्रजित मेघवाहन मन्दोदरी आदि आत्मीय परिजनों ने रोते-रोते रावण के लिए गोशीर्ष चन्दन काष्ठ की चिता निर्मित की और कर्पूर अगुरू मिश्रित प्रज्वलित अग्नि द्वारा रावण का अग्नि संस्कार किया।

राम एवं अन्य लोगों ने पद्म सरोवर पर जाकर स्नान किया और रावण को जलांजलि दी।

तब राम एवं लक्ष्मण ने ऐसे मधुर स्वर में मानों अमृत की वर्षा हो रही है कुम्भकर्णादि वीरों से बोले—'हे वीरगण, पूर्व की भाँति ही आप लोग राज्य करें। आपकी सम्पत्ति का हमें कोई लोभ नहीं है, हम तो आपका कल्याण चाहते हैं।'

राम और लक्ष्मण के ऐसे वचन सुनकर शोक और विस्मय से गद्‌गद् से कुम्भकर्णादि बोले—'हे महाबाहु, हे वीर, इस विशाल पार्थिव राज्य से अब हमें कोई सरोकार नहीं है। अब हम लोग मोक्ष राज्य प्रदान कारी दीक्षा ग्रहण करेंगे।'

उसी समय कुसुमायुध उद्यान में चार ज्ञान के धारी अप्रमेय कमल नामक मुनि आए हुए थे। जिस दिन रावण की मृत्यु हुयी उसी रात्रि को वहीं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर केवल ज्ञान महोत्सव मनाया। सुबह होते ही राम लक्ष्मण कुम्भकर्ण इन्द्रजित आदि मुनि को वन्दना करने गए। वन्दना के पश्चात धर्मोपदेश सुना। देशना सुनकर इन्द्रजित और मेघवाहन को वैराग्य उत्पन्न हो गया। देशना के अन्त में उन्होंने मुनि से अपना पूर्व भव जानना चाहा।

मुनि बोले, 'इसी भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नामक एक नगर है। वहाँ तुम दोनों भाइयों ने भाई रूप में एक गरीब के घर जन्म लिया। तुम्हारे नाम प्रथम और पश्चिम था। एक समय तुम दोनों ने भवदत्त मुनि से दीक्षा ग्रहण की और शान्तकषायी बनकर इधर उधर विचरण करने लगे। कुछ समय पश्चात् तुमलोग पुनः कौशाम्बी आए और वहाँ वसन्तोत्सव में राजा नन्दी-घोष को स्वपत्नी के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा। उन्हें देखकर पश्चिम मुनि ने

यह निदान किया यदि मेरी तपस्या का कोई फल है तो ऐसे ही क्रीड़ा करने-वाले राजा के घर मेरा जन्म हो। अन्य साधुओं ने उसे बहुत समझाया किन्तु उसने निदान की आलोचना नहीं की। तदुपरान्त यथा समय मृत्यु प्राप्त कर वह इन्दुमति के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम हुआ रतिवर्द्धन। अनुक्रम से यौवन प्राप्त होने पर रतिवर्द्धन राजा सिंहासन पर बैठा और अनेक राणियों से परिवेष्टित होकर पिता की भाँति ही क्रीड़ा करने लगा।

'प्रथम नामक मुनि निदान रहित नानाविध तप करने के फलस्वरूप पंचम-देवलोक में परम महर्द्धिक देव रूप में उत्पन्न हुए। अवधि ज्ञान से अपने भाई पश्चिम को कौशाम्बी नगरी में राज्य और क्रीड़ा करते हुये देखा। उसे उपदेश देने के लिए वे मुनि रूप धारण कर उसके पास गए। रतिवर्द्धन ने उन्हें बैठने के लिए आसन दिया। भातृ स्नेहवश उन्होंने उसे अपना और उसका पूर्व भव सुनाया। सुनकर रतिवर्द्धन को जाति स्मरण ज्ञान हुआ। अतः उसने संसार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण कर ली, और मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म देव लोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर तुम दोनों ने भाई रूप में महाविदेह क्षेत्र के विबुध नगर के राजा के घर जन्म ग्रहण किया। वहाँ भी दीक्षा लेकर तपस्या करते हुए मृत्यु के पश्चात् अच्युत देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर प्रतिवासुदेव रावण के दोनों पुत्र इन्द्रजित और मेघवाहन के रूप में जन्मग्रहण किया। रतिवर्द्धन की माँ भव भ्रमण करती हुयी तुम्हारी माँ मन्दोदरी बनी।' यह सुनकर कुम्भकर्ण इन्द्रजित मेघवाहन मन्दोदरी आदि ने दीक्षा ग्रहण कर ली।

फिर राम ने मुनि को नमस्कार किया और धूमधाम के साथ लक्ष्मण और सुग्रीव सहित लंका में प्रवेश किया। विभीषण छड़ीदार की भाँति आगे चलते हुए उन्हें राह दिखा रहा था। विद्याधरों की स्त्रियाँ उनकी मंगल वन्दना कर रही थी। अनुक्रम से वे पुष्पगिरि के शिखर स्थित उद्यान में जा पहुंचे। वहाँ राम ने सीता को उसी अवस्था में देखा जिसका वर्णन हनुमान ने किया था।

उस समय राम के मन में हुआ कि उनकी आत्मा अभी जीवित है। राम ने सीता को द्वितीय जीवन की तरह अपनी गोद में बैठाया। देव और गन्धर्व हर्षित होकर आकाश में हर्षनाद करने लगे—'महासती सीता की जय हो।' हर्ष के अश्रुओं से चरण धोते हुये लक्ष्मण ने सीता के चरणो में प्रणाम किया। सीता ने लक्ष्मण के मस्तक को सूँघा और आशीर्वाद दिया, 'चिरंजीवी होओ, चिरानन्दी होओ, सदैव विजयी होओ।' तदुपरान्त भामंडल ने सीता को

नमस्कार किया। उसे भी उन्होंने मुनि वचनों की भाँति अनिष्फल आशीर्वाद देकर सन्तुष्ट किया। तदुपरान्त सुग्रीव, विभीषण, अंगद आदि ने भी अपने-अपने नाम बताकर क्रमशः सीता को नमस्कार किया। दीर्घ दिनों के पश्चात् चन्द्रप्रकाश से विकसित कमलिनी की तरह सीता राम के सान्निध्य में सुशोभित हुयी।

राम सीता सहित भुवनालंकार हाथी पर बैठकर रावण के महल में गए। सुग्रीवादि वानर वीर और विभीषणादि राक्षस वीर भी उनके साथ गए। राम ने हजार मणिस्तम्भयुक्त शान्थिनाथ जिनालय में वन्दना की इच्छा से प्रविष्ट हुए। विभीषण ने पुष्पादि सामग्री दी। उसी से राम सीता और लक्ष्मण ने उनकी पूजा की।

विभीषण की प्रार्थना पर राम सीता और लक्ष्मण सुग्रीवादि वानर वीरों सहित विभीषण के घर गए। विभीषण को सम्मान देने के लिए उन्होंने वहाँ परिवार सहित स्नान देवार्चन और भोजन किया।

तदुपरान्त विभीषण राम को सिंहासन पर बैठाया और दो वस्त्र धारण कर हाथ जोड़कर बोले, 'हे स्वामिन्, यह रत्न सुवर्णादिका भंडार, यह चतुरंगिनी सेना और इस राक्षस द्वीप को आप ग्रहण करें। मैं आपका सेवक हूँ। आपकी आज्ञा से मैं आपका राज्याभिषेक करना चाहता हूँ। अतः मुझे आज्ञा देकर लंकापुरी को पवित्र और मुझे अनुगृहित करें।'

राम ने उत्तर दिया, 'हे महात्मा, लंका का राज्य तो मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया था। तुम भक्तिवश वह कैसे भूल गए? इस प्रकार विभीषण की बात न मानकर राम ने उसी समय प्रसन्नतापूर्वक विभीषण को सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया। तदुपरान्त इन्द्र जैसे सुधर्मा सभा में आते हैं उसी प्रकार राम सीता लक्ष्मण और सुग्रीवादि सहित रावण के प्रासाद में गए।

राम और लक्ष्मण ने सिंहोदर आदि की जिन कन्याओं से विवाह करना स्वीकार किया था उन्हें विद्याधरों द्वारा लंका में बुलवाया और अपनी-अपनी प्रतिश्रुति के अनुसार दोनों ने उन कन्याओं के साथ विवाह किया। खेचरियों ने मंगल गीत गाए। सुग्रीव और विभीषणादि सेवित राम लक्ष्मण छः वर्षों तक सुखोपभोग करते हुए लंका में सानन्द रहे। उसी समय विंध्यस्थली में इन्द्रजित और मेघवाहन ने सिद्धि पद प्राप्त किया। अतः वहाँ मेघरथ नामक तीर्थ स्थापित हुआ। कुम्भकर्ण ने नर्मदा नदी के तट पर मोक्ष प्राप्त किया। वहाँ पृष्ठरक्षित नामक तीर्थ स्थापित हुआ।

उधर अयोध्या में राम और लक्ष्मण की माताएँ इनका कोई संवाद न पाने

से चिन्तित हो रही थी। एक दिन धातकी खण्ड से नारद मुनि वहाँ पहुँचे। रानियों ने भक्ति पूर्वक उनका आदर सत्कार किया। कौशल्या ने कहा, 'मेरा पुत्र राम और लक्ष्मण पुत्रवधु सीता सहित पिता से आदेश लेकर वन गए थे। वहाँ रावण सीता को हरण कर ले गया। एतदर्थ राम लक्ष्मण लंका गए। वहाँ लक्ष्मण युद्ध में शक्ति के आघात से मूर्च्छित हो गया। शक्ति शल्य को दूर करने के लिए राम के योद्धागण विशल्या को लंका ले गए थे। इसके बाद क्या हुआ हम नहीं जानते। नहीं मालूम लक्ष्मण जीवित हुये हा नहीं।'

ऐसा कहकर कौशल्या 'हा वत्स! हा वत्स!' कहती हुई क्रन्दन करने लगी। नारद ने उन्हें सान्त्वना देकर कहा, 'आप दुखी मत होइए। मैं राम के पास जाकर उन्हें लेकर यहाँ आऊँगा।'

इस प्रकार उन्हें सान्त्वना देकर नारद आकाश पथ से राम के निकट लंका पहुँचे। राम ने सत्कार पूर्वक उन्हें बैठाया और आने का कारण पूछा। नारद ने उन्हें उनकी माँ का दुःख सुनाया। सुनकर राम लक्ष्मण भी दुःखी हो गए। वे विभीषण से बोले, 'हमलोग तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर बहुत दिनों तक तुम्हारे अतिथि रहे। किन्तु अब तुम हमें विदा दो ताकि हम पुत्र-वियोग में व्याकुल माताओं के प्राण वियोग के पूर्व ही उनके निकट जाकर उनकी चरण धूलि मस्तक पर धारण कर उनके हृदय को शान्त करें।'

तब विभीषण सविनय बोले, 'हे स्वामिन्, आप पन्द्रह दिनों तक यहाँ और रहें ताकि इस समय के मध्य यहाँ के कारीगरों को भेजकर अयोध्या को रमणीय करवा दें। राम ने यह स्वीकार कर लिया। विभीषण ने अपने विद्याधर कारीगरों को भेजकर अयोध्या को स्वर्गपुरी सा सुन्दर बनवा दिया। नारद भी राम से विदा लेकर अयोध्या गए और कौशल्या आदि को राम के शीघ्र ही आने का संवाद दिया। तदुपरान्त सोलहवें दिन राम और लक्ष्मण स्व अन्तःपुर सहित पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या लौट गए। विमान में बैठे राम और लक्ष्मण इस भाँति सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र सुशोभित होते हैं। विभीषण सुग्रीव भामण्डल आदि राजाओं सहित राम अल्प समय में ही अयोध्या के निकट जा पहुँचे। अपने अग्रज को पुष्पक विमान में बैठकर आते देख भरत और शत्रुघ्न आदि हाथी पर चढ़कर उनका स्वागत करने के लिए सम्मुख गए। भरत के निकट आते ही राम की आज्ञा से पुष्पक विमान धरती पर उसी प्रकार उतर गया जैसे इन्द्र की आज्ञा से पालक विमान उतर जाता है। भरत और शत्रुघ्न भी तब हाथी से उतरकर पैदल चलते हुए राम के पास पहुँचे। अनुजों से मिलने को उत्सुक राम और

लक्ष्मण भी विमान से उतर गए। भरत शत्रुघ्न ने राम के चरणों में अष्टांग प्रणाम किया। दोनों के नेत्र प्रेमाश्रु से भर गए। राम ने उन्हें उठाकर गले से लगा लिया और मस्तक चूमकर उनके देह की धूल झाड़ दी। फिर उन दोनों ने लक्ष्मण के चरणों में प्रणाम किया। लक्ष्मण ने बाहें फैलाकर उनका आलिंगन किया।

तदुपरान्त राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न पुष्पक विमान में बैठे। राम ने पुष्पक विमान को शीघ्रतापूर्वक अयोध्या प्रवेश की आज्ञा दी। आदेश मिलते ही पुष्पक विमान राम को अनुजो सहित अयोध्या ले चला। धरती और आकाश में वाद्ययंत्र बज उठे। मयूर जिस प्रकार मेघ को देखता है उसी प्रकार पुरवासी अनिमेष नेत्रों से राम और लक्ष्मण को देखने लगे और उनकी स्तुति करने लगे। प्रसन्न बदन राम और लक्ष्मण को लोग सूर्य की भाँति अर्घ्य देने लगे। वे भी उसे स्वीकार करते हुए क्रमशः प्रासाद के निकट जा पहुँचे।

सुहृदजनों के हृदय को आनन्दकारी राम लक्ष्मण सहित पुष्पक विमान से उतरकर माताओं के महल में गए। माताओं ने उन्हें आशीर्वाद दिया। तदुपरान्त सीता विशल्या आदि ने भी सासुओं के चरण स्पर्श किए। उन्होंने भी आशीर्वाद दिया कि तुम भी हमलोगों की तरह वीरपुत्रों की जन्मदात्री बनो।

कौशल्या बार-बार लक्ष्मण का मस्तक सहलाकर कहने लगी, 'हे तात, मैंने सौभाग्य से ही आज तुम्हें देखा है। मैं तो यही समझ रही हूँ तुमने नवीन जन्म प्राप्त किया है। कारण विदेश में तुम मृत्यु के मुख में जाकर पुनः विजय प्राप्त कर यहाँ लौटे हो। राम और सीता तुम्हारी सेवा के लिए ही वन में उस प्रकार का कष्ट सहन कर सके थे।'

लक्ष्मण सविनय बोले, 'माँ, वन में अग्रज राम पिता की भाँति और सीता आपकी ही तरह मेरे लालन-पालन करते थे। अतः मैंने तो वन में सुखपूर्वक ही दिन व्यतीत किए। किन्तु मुझसे स्वेच्छाचारी और दुर्ललित दुष्टाचार के लिए राम की अन्य से शत्रुता हुई। और देवी सीता का हरण हुआ। इस विषय में मैं अधिक क्या कहूँ! राम और सीता पर जो विपत्ति आयी उसका कारण मैं ही हूँ। किन्तु माँ, आपके आशीर्वाद से भद्र राम अब शत्रुरूपी समुद्र का उल्लंघन कर परिवार सहित यहाँ सकुशल पहुँच गए हैं।'

एक सेवक की तरह राम के निकट रहने की इच्छा वाले भरत ने नगर में वृहद उत्सव किया।

एक दिन भरत ने राम को प्रणाम कर कहा, 'हे आर्य, आपकी आज्ञा से मैंने इतने दिनों तक राज्य किया है, अब आप उसे ग्रहण करें। इस राज्य को

करने के लिए यदि मैं आप द्वारा विवश नहीं कर दिया जाता तो उसी समय पिताजी के साथ दीक्षा ग्रहण कर लेता। मेरा हृदय संसार से विरक्त हो गया है। अब जबकि आप आ ही गए हैं तो उस राज्य को ग्रहण करें। अब मेरी राज्य करने की इच्छा नहीं है।'

तब राम आँखों में आँसू भरकर बोले, 'हे वत्स, तुम यह क्या कह रहे हो? हम तो यहाँ तुम्हारे आमन्त्रण पर आए हैं। तुम आज तक जिस प्रकार राज्य कर रहे थे उसी प्रकार करते रहो। राज्य सहित हमलोगों का परित्याग कर अकारण क्यों हमें विरह व्यथा देना चाह रहे हो? पूर्व की तरह मेरी आज्ञा का पालन कर राज्य करो।' राम को इस प्रकार आग्रह करते देखकर भरत वहाँ से उठकर जाने लगे। लक्ष्मण ने उनका हाथ पकड़कर बैठा दिया। भरत ने व्रत ग्रहण करने का निश्चय किया है जानकर सीता विशल्या आदि ससंभ्रम वहाँ आयी और भरत को व्रत का आग्रह भुलाने के लिए जलक्रीड़ा को चलने का अनुरोध किया। उनका अत्यन्त आग्रह देखकर भरत को उनका आग्रह स्वीकार करना पड़ा।

इच्छा नहीं होते हुए भी भरत अपने अन्तःपुर सहित जलक्रीड़ा करने गए। विरक्त हृदय भरत ने एक मुहूर्त तक क्रीड़ा की तदुपरान्त राजहंस की तरह सरोवर से निकलकर तट पर आए। उसी समय आलान स्तम्भ को उखाड़ कर भुवनालंकार नामक हाथी वहाँ आया। मदान्ध होते हुए भी भरत को देखने मात्र से ही वह मदरहित अर्थात् शान्त हो गया। भरत भी उसे देखकर आनन्दित हो गए।

उपद्रवकारी हाथी के बन्धन मुक्त होने की बात सुनकर राम और लक्ष्मण भी स्व सामन्तों सहित उसे पकड़ने के लिए तत्काल वहाँ आकर उपस्थित हुए। हाथी पकड़ा गया। राम की आज्ञा से महावत उसे बाँधने के लिए स्व स्थान पर ले गए। उसी समय उन्हें देशभूषण और कुलभूषण नामक दो केवलियों के उद्यान में समवसरण लगाने का संवाद मिला। राम लक्ष्मण और भरत सपरिवार उन्हें वन्दना करने गए।

वन्दना के पश्चात् राम ने पूछा, 'हे महात्मन्, मेरा भुवनालंकार नामक हाथी भरत को देखते ही मदरहित क्यों हो गया?' देशभूषण केवली बोले, 'भगवान् ऋषभ ने चार हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। बाद में जब वे मौन और निराहार रहकर (शुद्ध आहार पानी न मिलने से) विहार करने लगे तब सब राजा क्लिष्ट होकर वनवासी हो गए। उनमें प्रह्लादन और सुप्रभ राजा के चन्द्रोदय और सुरोदय नामक दो पुत्र थे। वे बहुत दिनों

तक भवभ्रमण करते हुए अनुक्रम से चन्द्रोदय गजपुर में हरिमती राजा की रानी चन्द्रलेखा के गर्भ से कुलंकर नामक पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। सुरोदय भी उसी नगर में विश्वभूति नामक ब्राह्मण की पत्नी अग्निकुण्डा के गर्भ से जन्म ग्रहण किया और श्रुतिरति नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'कुलंकर राजा हो गए। एक दिन वे एक तापस के आश्रम में जा रहे थे। उन्हें अभिनन्दन नामक अवधिज्ञानी मुनि बोले, 'हे राजन्, तुम जिसके पास जा रहे हो वह तापस पंचाग्नि तप कर रहा है। तप के लिए लाए काष्ठ में एक सर्प है। वह सर्प पूर्वभव में क्षेमंकर नामक तुम्हारे पितामह थे। इसलिए उस काष्ठ को सावधानी पूर्वक चीरकर उस सर्प की रक्षा करो।' मुनि की बात सुनकर राजा व्याकुल हो उठे। वे तत्काल वहाँ गए और काष्ठ चीर कर मुनि के कथनानुसार वहाँ सर्प देखकर विस्मित हो उठे। कुलंकर राजा की इच्छा दीक्षा लेने की हो गयी। उसी समय श्रुतिरति ब्राह्मण भी वहाँ आया और कहने लगा, 'तुम्हारा यह धर्म आम्नाय रहित नहीं है फिर भी यदि दीक्षा लेनी है तो अन्तिम समय में लेना। इस समय क्यों दुःख वरण कर रहे हो?'

'श्रुतिरति की बात सुनकर राजा की दीक्षा लेने की इच्छा नष्ट हो गयी। वह किंकर्तव्यविमूढ़ सा विचार करते हुये संसार में ही रह गया। उसकी श्रीदामा नामक एक रानी थी। वह श्रुतिरति पुरोहित पर आसक्त थी। एक दिन उस दुर्मति रानी के मन में भय उत्पन्न हुआ कि उसके और श्रुतिरति का अवैध सम्बन्ध राजा को ज्ञात हो गया है। उसने इस भय को सत्य समझा। उसने सोचा राजा असन्तुष्ट होकर उसे मार डालेंगे। इसलिए वे मुझे मारें उसके पूर्व ही उन्हें मार देना उचित होगा। तदुपरान्त श्रीदामा श्रुतिरति से परामर्श कर अपने पति कुलंकर को मार डाला। कुछ दिन पश्चात् श्रुतिरति भी मर गया। बहुत दिनों तक वे दोनों विभिन्न प्रकार की योनियों में पतित होकर संसार भ्रमण करने लगे।

'कितना ही समय व्यतीत हो गया। तदुपरान्त वे राजगृह नगर में कपिल नामक ब्राह्मण पत्नी सावित्री के गर्भ से युग्म रूप में उत्पन्न हुए। उनके नाम विनोद और रमण थे। रमण वेदाध्ययन के लिए विदेश गया। वहाँ वेदाध्ययन कर वह राजगृह लौट आया। जब वह राजगृह प्रवेश करने लगा तो रात बहुत हो गयी थी। उसे असमय आया देखकर द्वारपालों ने द्वार नहीं खोला। अतः सर्व साधारण के व्यवहार के लिए जो यक्षायतन था वह वहाँ जाकर रात्रि व्यतीत करने के लिए अवस्थित हो गया।

'उसी समय विनोद की पत्नी शाखा दत्त नामक व्यक्ति के साथ व्यभिचार का संकेत पाकर वहाँ यक्षायतन में आयी। दत्त तब तक आया नहीं था। उसने रमण को ही दत्त समझकर उसे जाग्रत किया और व्यभिचार में लिप्त हो गयी। उसका अनुसरण कर उसका पति विनोद वहाँ आया और रमण को मार डाला। शाखा ने रमण की छूरी बाहर निकाल कर उसी से विनोद को मार डाला।

'वे दोनों पुनः दीर्घ काल तक भव भ्रमण करते रहे। तत्पश्चात् विनोद ने एक धनाढ्य व्यक्ति के घर धन नामक पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। रमण भी उसी श्रेष्ठी की पत्नी लक्ष्मी के गर्भ से भूषण नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। भूषण के साथ बत्तीस श्रेष्ठी कन्याओं का विवाह हुआ। वह उनके साथ सुखोपभोग करने लगा। एक दिन रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जब वह अपने घर की छत पर बैठा था उसी समय श्रीधर नामक मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने केवल ज्ञान उत्सव मनाया। उसने उस महोत्सव को देखा। यह देखकर भूषण के मन में धर्म भाव उत्पन्न हुआ। वह उसी समय प्रासाद से उतर कर मुनि को वन्दना करने गया। जाते समय राह में सर्प ने उसे डस लिया। शुभ परिणाम में मृत्यु होने के कारण वह दीर्घकाल तक शुभ गति में भ्रमण करता रहा। तत्पश्चात् वह जम्बूद्वीप के अपर विदेह के रत्नपुर नामक नगर में अचल नामक चक्रवर्ती की पत्नी हरिणी के गर्भ से पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। उसका नाम प्रियदर्शन रखा गया। उसकी धर्म में अभिरूचि थी, फलतः वह बाल्यकाल में ही दीक्षा लेना चाहा। किन्तु पिता की आज्ञा से तीन हजार कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। सुखोपभोग करते समय भी वह संवेग से रहता था। वह गृहवास में चौसठ हजार वर्षों तक धर्माचरण में रत रहकर मृत्यु प्राप्त की और ब्रह्म देव लोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

'घन संसार भ्रमण कर पोतनपुर में अग्निमुख नामक ब्राह्मण की पत्नी शकुन्त के गर्भ से मृदुमति नामक पुत्र रूप में जन्मा। वह अत्यन्त अविनीत था इसलिए पिता ने उसे घर से निकाल दिया। वह इधर उधर घूमने लगा और सुयोग के अनुसार कला की शिक्षा लेने लगा। इस प्रकार समस्त कलाओं में पूर्ण और धूर्त होकर वह घर लौट आया। द्यूत क्रीड़ा में वह कभी किसी से हारता नहीं था। अतः उसने इस क्रीड़ा से प्रचुर धन प्राप्त कर लिया। फिर वसन्तसेना वेश्या के साथ भोग विलास कर अन्त में दीक्षित हुआ। मृत्यु के पश्चात् वह भी ब्रह्म देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर पूर्व भव के कपट के लिए वैताढ्य पर्वत पर हाथी रूप में जन्म ग्रहण

किया। वही हाथी यह भुवनालंकार है। प्रियदर्शन का जीव ब्रह्म देवलोक से च्युत होकर तुम्हारा पराक्रमी भाई भरत हुआ है। भरत को देखकर भुवनालंकर को जाति स्मरण ज्ञान हो गया अतः वह उसी समय मदरहित हो गया कारण विवेक उत्पन्न होने पर रुद्रता-उग्रता नहीं रहती।'

इस प्रकार अपना पूर्व भव सुनकर भरत का हृदय और अधिक वैराग्यमय हो गया। उन्होंने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ली और तपस्या कर मोक्ष गए। अन्यान्य राजागण भी दीर्घकाल तक व्रत का पालन कर नाना प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त की और अन्त में भरत की तरह पद प्राप्त किया अर्थात् मोक्ष गए। भुवनालंकर हस्ती भी बहुविध तपकर अन्त में अनशन मृत्यु वरण कर ब्रह्म देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ। भरत की मां कैकेयी भी व्रत ग्रहण कर एवं उसका निष्कलंक पालन कर मोक्ष प्राप्त की।

भरत के दीक्षा लेने के पश्चात् अनेक राजा, खेचर और प्रजाजनों ने भक्ति भाव से राम को राज्यासन ग्रहण करने को कहा। राम बोले, 'लक्ष्मण वासुदेव हैं, इसलिए उसका राज्याभिषेक करो।' वैसा ही किया गया। अष्टम वासुदेव और बलदेव तीन खण्ड भरत पर राज्य करने लगे।

राम ने विभीषण को राक्षसद्वीप, सुग्रीव को कपि द्वीप, हनुमान को श्रीपुर, विराध को पाताल लंका नीलको ऋक्षपुर, प्रतिसूर्य को हनुपुर, रत्नजटी को देवोपगीत नगर और भामण्डल को वैताढ्य पर्वत का रथनुपुर नगर जहाँ उसकी पूर्व राजधानी थी प्रदान किया। अन्य को भी भिन्न-भिन्न राज्य दिए।

तदुपरान्त राम शत्रुघ्न को बोले, 'वत्स, जो देश तुम्हें पसन्द हो ग्रहण करो।' शत्रुघ्न बोले, 'हे आर्य, मुझे मथुरा का राज्य दें।' राम बोले, 'वत्स, मथुरा का राज्य लेना दुष्कर है। कारण वहाँ मधु नामक एक राजा राज्य करते हैं। उसे चमरेन्द्र ने पहले एक त्रिशुल दिया था, उसका यह गुण है कि वह दूर से ही शत्रु का संहार कर पुनः मधु के हाथों में लौट जाता है।'

शत्रुघ्न बोले, 'हे देव, आप यदि राक्षस कुल का नाश कर सकते हैं तो क्या मैं आपका छोटा भाई होकर मधु को परास्त नहीं कर सकूंगा? निश्चय ही कर सकूँगा। अतः आप मुझे मथुरा का राज्य दें। मैं स्वयं मधुराजा का उपाय कर लूँगा।'

रामने शत्रुघ्न का अत्यन्त आग्रह देखकर उसे मथुरा जाने की आज्ञा दे दी। बोले, 'भाई, मधु जब त्रिशूल रहित प्रमाद में पड़ा हो, उसी समय उससे युद्ध करना।' तदुपरान्त राम ने शत्रुघ्न को अक्षय बाण युक्त दो तुणीर दिए और

कृतान्त बदन नामक सेनापति को उनके साथ कर दिया। परम विजय की आशा वाले लक्ष्मण ने भी उन्हें अग्निमुख वाण और अपना अर्णवावर्त्त अनुष दी।

शत्रुघ्न यात्रा करते हुए कुछ दिनों के मध्य ही मथरा के निकट पहुंच गए और नदी तट पर छावनी डाली। उन्होंने जानकारी के लिए गुप्तचरों को भेजा। वे लौट कर आए और बोले, 'मथुरा के पूर्व में कुवेरोद्यान नामक एक उद्यान है। मधुराजा अभी वहाँ गए हैं और अपनी पत्नी जयन्ती के साथ विहार कर रहे हैं। उनके साथ युद्ध करने का यही उपयुक्त समय है।'

छल के विशाता शत्रुघ्न ने रात्रि के समय मथुरा में प्रवेश किया और अपनी सेना द्वारा मधु के आने के पथ को अवरूद्ध कर दिया। युद्ध आरम्भ हुआ। राम रावण के युद्ध में लक्ष्मण ने जिस प्रकार पहले खर को मारा उसी प्रकार शत्रुघ्न ने मधु के पुत्र लवण को मार डाला। महारथी मधु पुत्र निधन पर क्रोधित होकर धनुष उठाए शत्रुघ्न से युद्ध करने के लिए अग्रसर हुए। दोनों में युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ही शस्त्र चला रहे थे और दोनों ही एक दूसरे के अस्त्र काट रहे थे। दोनों में देव और दानव की भाँति बहुत देर तक शस्त्र युद्ध चलता रहा। दशरथ पुत्र शत्रुघ्न ने तब लक्ष्मण द्वारा प्रदत्त अर्णवावर्त धनुष और अग्निमुख वाण को स्मरण किया। स्मरण मात्र से वे उनके हाथ में आ गये। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर अग्निमुख वाण द्वारा शिकारी जैसे सिंह पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार शत्रुघ्न शत्रुपर प्रहार करने लगे। वाण के आघात से व्याकुल होकर मधु सोचने लगा—इस समय मेरे हाथ में त्रिशूल नहीं है। इसीलिए मैं शत्रु को मार नहीं सका। मैंने कभी जैनेन्द्र पूजा भी नहीं की और नहीं चैत्य निर्माण और दान पुण्य किया फलतः मेरा जीवन व्यर्थ चला गया। ऐसा विचार कर मधु ने भाव चारित्र ग्रहण किया और नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते हुए मृत्यु प्राप्त कर सनत्कुमार देव लोक में महर्द्धिक देव के रूप में उत्पन्न हुए। उसी समय मधु की देह पर विमानवासी देवों ने पुष्प वृष्टि की और 'मधु देव की जय हो' कहकर जय घोषणा की।

देवता रूपी त्रिशूल चमरेन्द्र के पास लौट गया और शत्रुघ्न ने मधु की हत्या किस प्रकार छल से की पूरा वृतान्त सुनाया। अपने मित्र बध की बात सुनकर चमरेन्द्र ने शत्रु को मारने के लिए प्रस्थान किया, वेणुदारी नामक गरूड़ पति ने उनसे पूछा, 'आप कहाँ जा रहे हैं?' उन्होंने प्रत्युत्तर दिया 'मेरे मित्र की हत्या करने वाला शत्रुघ्न इस समय मथुरा में है, मै उसे मारने जा रहा हूँ।'

[क्रमशः

संकलन

॥ मूल्यांकन आज भी प्रतीक्षित है ॥

भगवान महावीर का बहुआयामी और जन-कल्याण प्रेरक चिन्तन आज विचारणीय बन गया है। महावीर की परम्परा के दर्शन साहित्य और कला पर इधर कुछ दशकों में सर्वाधिक संगोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ, व्याख्यान मालाएँ एवं शोध कार्य सम्पन्न हुए हैं। देश-विदेश के दिग्गज विद्वानों ने अपने शोध-पत्र, पुस्तकें आदि महावीर और जैन विद्या के विभिन्न पक्षों पर प्रकाशित की है। जैन सन्तों के नाम से प्रकाशित होनेवाले साहित्य की तो बाढ़ ही आ गयी है। किन्तु इसका आकलन/मूल्यांकन आज भी प्रतीक्षित है कि इन सब सारस्वत महाप्रयत्नों की निष्पत्ति क्या है? क्या हम किसी एक जैन आचार्य के ऐसे योगदान को रेखांकित कर सके जो पूरी भारतीय मनीषा के लिए मार्गदर्शक/अप्रतिम हो? जैन साहित्य की कोई पुस्तक भारतीय साहित्यकार के लिए अपरिहार्य पठनीय बन सकी? जैन दर्शन का कोई एक सिद्धान्त देश की जनता की जीवन शैली का अंग बन पाया? कालिदास, तुलसी की भाँति क्या कोई एक प्राकृत-अपभ्रंश साहित्यकार पाठ्यक्रमों का अनिवार्य अंग बन पाया? आखिर क्यों? जैन सन्त, विद्वान, शिक्षक, पत्रकार कब इस दिशा में सार्थक प्रयत्न करेंगे? आयोजन, पुरस्कार, उपाधियों, छपास आदि की प्रवृत्तियों का अपरिग्रह कब होगा? इस दिशा में उठाया गया पहला कदम ही भगवान महावीर और उनकी परम्परा के प्रति प्रथम प्रणाम होगा।

—डॉ० प्रेमसुमन जैन

प्राकृत विद्या, अक्टूबर '९२-मार्च '९३

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

जर्नल अव दि ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट ॥ सितम्बर-दिसम्बर १९९०

इस अंक में है 'Reflections on Jain Metaphysics and Ethics' (H. M. Joshi), 'Samaya-Sundara and His Contribution to Sanskrit Literature' (Satyavrat)

जैन जर्नल ॥ जनवरी १९९३

इस अंक में है 'Sacred Literature of the Jains' (Albrecht Friedrich Weber), 'Gaining Academic Recognition for Jainism' (S. K. Jain), 'The Ladder of Spiritual Ascent according to Jainism' (Swami Brahmeshananda), 'Three Polychrome Wood Carvings of Jain Derasar' (Madhav Gandhi).

तीर्थंकर ॥ मार्च-अप्रैल १९९३

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन धर्म के विकास में तीर्थंकरों की भूमिका' (कन्हैयालाल सरावगी), 'लोकप्रिय हिन्दी के जनक/आद्य-शिक्षाविद् राजा शिव प्रसाद (जैन) सितारे हिन्द' (अजित प्रसाद जैन), 'आयुर्वेद के विकास में जैन आचार्यों का योगदान' (डा० अरविन्द जैन) ।

शोधादर्श ॥ मार्च १९९३

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता श्रीमद् भट्टाकलंकदेव' (स्व० ज्योति प्रसाद जैन), 'प्राकृत काव्य वज्जालग्गं : एक अध्ययन' (डा० अलका अग्रवाल), 'चीन और जापान के राष्ट्रीय चिन्तन पर भारत की बौद्ध विचारधारा का प्रभाव' (डा० शशिकान्त), 'जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन' (डा० मनोरमा जैन), 'गंगेरवाल' (रामजीत जैन), 'जटासिंहनन्दि का वरांग चरित और उसकी परम्परा' (डा० सागरमल जैन), 'पौराणिक सृष्टि : वैज्ञानिक विश्लेषण' (डा० सुनीता कुमारी), 'संस्कृत काव्य के विकास में बीसवीं शताब्दी के जैन मनीषियों का योगदान' (डा० नरेन्द्र सिंह राजपूत), 'मेरुतुँगाचार्य कृत प्रबन्ध चिन्तामणि का एक आलोचनात्मक अध्ययन' (डा० यदुनाथ प्रसाद दुबे), 'आचार्य सन्मति सागरजी कृत कुरल-काव्य' (कुन्दकुन्द गीता) : एक अनुचिन्तन' (डा० शीलचन्द्र जैन) ।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : Off. 21039
Res. 21174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Factory and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :

4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 30-2071

Branch Office :

Peerkhanpur : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-330
Vol. XVII No. 1 TITTHAYARA May 1993
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77